

दिल्ली उच्च न्यायालय : नई दिल्ली

मू.वि.या. सं. 144/2003

निर्णय की तिथि : 20.08.2008

शर्मा एंटरप्राइजेज़

.....याचिकाकर्ता

द्वारा: सुश्री अंसुया सलवान, अधिवक्ता।

बनाम

नेशनल बिल्डिंग कंस्ट्रक्शन कॉर्पोरेशन लिमिटेड और अन्य

.....प्रत्यर्थी

द्वारा: श्री मनोज के. दास, अधिवक्ता।

कोरम:-

माननीय न्यायमूर्ति श्री राजीव सहाय एंडलॉ

1. क्या स्थानीय समाचार पत्रों के संवाददाताओं
को निर्णय देखने की अनुमति दी जा सकती है? हाँ
2. रिपोर्टर को संदर्भित किया जाना है या नहीं? हाँ
3. क्या निर्णय डाइजेस्ट में प्रकाशित किया जाना चाहिए? हाँ

न्या. राजीव सहाय एंडलॉ

1. यह याचिका माध्यस्थम् अधिनियम, 1996 की धारा 14 और 15
का अवलंब लेते हुए यह घोषित करती है कि प्रत्यर्थी सं. 1 के अध्यक्ष द्वारा

मध्यस्थ के रूप में नियुक्त प्रत्यर्थी सं. 2 का आदेश विधितः या वस्तुतः समाप्त हो गया है। इस मामले का इतिहास उतार-चढ़ाव भरा रहा है, जिसे संक्षेप में निम्नानुसार बताया जा सकता है।

2. याचिकाकर्ता और प्रत्यर्थी सं. 1 के बीच 18 जनवरी, 1991 को हुए संविदा से विवाद उत्पन्न हुए। मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए याचिकाकर्ता द्वारा माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 20 के अंतर्गत वाद सं. 3446/1992 दायर किया गया। उक्त वाद का निपटान 2 दिसंबर, 1997 के निर्णय द्वारा किया गया। उक्त निर्णय में यह दर्ज है कि (क) प्रत्यर्थी सं. 1 ने 22 सितंबर, 1992 को याचिकाकर्ता के साथ अनुबंध समाप्त कर दिया था; (ख) याचिकाकर्ता ने 20 जून, 1992 के अपने पत्र के माध्यम से अनुबंध में मध्यस्थता खंड का अवलंब लिया था और प्रत्यर्थी से मध्यस्थ नियुक्त करने का आह्वान किया था; (ग) प्रत्यर्थी मध्यस्थ नियुक्त करने में विफल रहा था, जिसके कारण याचिकाकर्ता ने वाद सं. 3446/1992 दायर किया; (घ) प्रत्यर्थी ने, उन कार्यवाहियों के दौरान, मध्यस्थता अनुबंध पर विवाद नहीं किया था, बल्कि इस आधार पर वाद का विरोध किया था कि मध्यस्थ, अर्थात् प्रत्यर्थी के महाप्रबंधक श्री दलजीत सिंह को पहले ही 27 जनवरी, 1993 को एकमात्र मध्यस्थ नियुक्त कर दिया गया था और इस तरह वाद निष्फल हो गया था। याचिकाकर्ता ने दावा किया कि वह एक स्वतंत्र मध्यस्थ नियुक्त किए जाने का हकदार है।

3. इस न्यायालय ने 2 दिसंबर, 1997 के अपने निर्णय में अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी के अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक ने वाद की सूचना मिलने पर ही मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए कार्रवाई शुरू की; प्रत्यर्थी ने मध्यस्थता अनुबंध के अनुसार मध्यस्थ नियुक्त करने के अपने अधिकार को खो दिया था और याचिकाकर्ता द्वारा स्वतंत्र मध्यस्थ की नियुक्ति की माँग करना उचित था। इस न्यायालय ने तदनुसार, माननीय न्यायमूर्ति जी.सी. जैन (सेवानिवृत्त) को याचिकाकर्ता और प्रत्यर्थी के बीच के निम्न विवादों का निर्णय करने के लिए एकमात्र मध्यस्थ नियुक्त किया,

“1. क्या प्रत्यर्थी याचिका के साथ अनुलग्नक क्यू के रूप में संलग्न दिनांक 8.9.92 के पत्र में दिए गए विवरण के अनुसार 1,08,47,848.00 रुपये (एक करोड़ आठ लाख सैंतालीस हजार आठ सौ अड़तालीस रुपये मात्र) का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी है?”

2. क्या प्रत्यर्थी उक्त राशि पर देय तिथि से लेकर उसकी वसूली तक 24% प्रति वर्ष की दर से ब्याज का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी है?”

4. मैं यह उल्लेख करना चाहूँगा कि इस न्यायालय के उपरोक्त निर्णय में, प्रत्यर्थी के अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक द्वारा श्री दलजीत सिंह को मध्यस्थ नियुक्त करने संबंधी दिनांक 27 जनवरी, 1993 का पत्र निम्नानुसार पुनः प्रस्तुत किया गया है:

“अब, अतः, मैं राजीव केहर, अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक, एनबीसीसी लिमिटेड, नई दिल्ली, मुझे प्रदत्त शक्तियों का उपयोग करते हुए, श्री दलजीत सिंह, महाप्रबंधक, एनबीसीसी लिमिटेड, कलकत्ता को याचिका के अनुलग्नक क्यू में उल्लिखित विवादों/दावों, जिसका वाद संख्या 3446/96 है (बैंक गारंटी से संबंधित विवादों/दावों और उन विवादों/दावों को छोड़कर जिनके संबंध में किसी विशेष प्राधिकरण का निर्णय अंतिम बताया गया है), और प्रत्यर्थागण के प्रति-दावे, यदि कोई हों, अनुबंध की शर्तों और नियमों के अंतर्गत उनकी स्वीकार्यता के अधीन, के संबंध में निर्णय लेने और अपना अधिनिर्णय देने के लिए एकमात्र मध्यस्थ के रूप में नियुक्त करता हूँ। (ज़ोर दिया गया)”

5. प्रत्यर्थी ने उपरोक्त निर्णय के विरुद्ध अपील (आ.प्र.अ (मू.प.) 33/1998) दायर की थी, जिसे इस न्यायालय की खंड पीठ के दिनांक 9 जुलाई, 1999 के आदेश द्वारा अनुमति दे दी गई। इस बीच, स्वतंत्र मध्यस्थ के रूप में नियुक्त माननीय न्यायमूर्ति जी.सी. जैन की मृत्यु हो गई और याचिकाकर्ता ने उनके स्थान पर नए मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए आवेदन किया। माननीय न्यायमूर्ति सतपाल को इस न्यायालय द्वारा दिनांक 9 सितंबर, 1998 के आदेश द्वारा माननीय न्यायमूर्ति जी.सी. जैन के स्थान पर नियुक्त किया गया। खंड पीठ ने अभिनिर्धारित किया कि याचिकाकर्ता ने वाद दायर करने से पहले मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए नियुक्ति प्राधिकरण को कोई नोटिस नहीं दिया था और वाद दायर करने पर ही नियुक्ति प्राधिकरण को नोटिस दिया गया था और नियुक्ति प्राधिकरण ने निर्धारित अवधि के भीतर श्री दलजीत सिंह को एकमात्र मध्यस्थ नियुक्त किया था। खंड पीठ के आदेश में

आगे यह दर्ज किया गया है कि "यह जोड़ने की आवश्यकता नहीं है कि अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक द्वारा नियुक्त नामित मध्यस्थ के समक्ष अपीलार्थी का प्रति-दावा परिसीमा अवधि के भीतर है। प्रति-दावा उठाने के लिए परिसीमा के संबंध में प्रत्यर्थी की आपत्ति केवल उस प्रति-दावे पर थी, जिसे अपीलार्थी ने श्री सतपाल के समक्ष दायर किया था।"

खंड पीठ ने आगे अभिनिर्धारित किया कि श्री दलजीत सिंह दावों और प्रति-दावों का न्यायनिर्णयन करेंगे।

6. इस न्यायालय की खंड पीठ के आदेश के विरुद्ध याचिकाकर्ता द्वारा विशेष अनुमति याचिका प्रस्तुत की गई थी। उक्त विशेष अनुमति याचिका का निपटान शीर्ष न्यायालय के दिनांक 18 अक्टूबर, 2000 के आदेश के अनुसार किया गया था। शीर्ष न्यायालय ने अपने आदेश में उल्लेख किया कि प्रत्यर्थी ने खंड पीठ के समक्ष प्रस्तुत अपील ज्ञापन में यह स्पष्ट किया है कि माननीय न्यायमूर्ति जैन की नियुक्ति पर प्रश्न नहीं उठाया जा रहा है तथा वास्तव में अपील में प्रार्थना केवल पक्षकारगण के बीच मध्यस्थता अनुबंध के अनुसार एकमात्र मध्यस्थ की नियुक्ति तक सीमित थी, न कि प्रबंध निदेशक द्वारा अनुबंध के अनुसार नियुक्ति करने में चूक या लापरवाही के कारण तथा प्रति-दावा उक्त मध्यस्थ को संदर्भित करने हेतु थी। शीर्ष न्यायालय ने आगे उल्लेख किया कि प्रत्यर्थी ने माननीय न्यायमूर्ति जी.सी. जैन के स्थान पर न्यायमूर्ति सतपाल को मध्यस्थ नियुक्त करने के माननीय एकल न्यायाधीश के

आदेश पर खंड पीठ के समक्ष प्रश्न नहीं उठाया था। शीर्ष न्यायालय ने आगे उल्लेख किया कि प्रत्यर्थी ने माननीय न्यायमूर्ति जी.सी. जैन के स्थान पर माननीय न्यायमूर्ति सतपाल की नियुक्ति के आदेश के विरुद्ध एकल न्यायाधीश के समक्ष पुनर्विलोकन आवेदन दायर किया था। तदनुसार, शीर्ष न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि खंड पीठ के समक्ष अपील वास्तव में निष्फल हो गई थी और इसका निपटान किया जाना चाहिए था। तदनुसार, शीर्ष न्यायालय ने खंड पीठ के आदेश को अपास्त कर दिया और प्रत्यर्थी को एकल न्यायाधीश के समक्ष दायर पुनर्विलोकन आवेदन को आगे बढ़ाने के लिए अनिर्णीत छोड़ दिया।

7. एकल न्यायाधीश के समक्ष प्रत्यर्थी द्वारा दायर पुनर्विलोकन आवेदन का निपटान 6 फ़रवरी, 2001 को प्रत्यर्थी के अधिवक्ता की इस रियायत पर किया गया कि चूँकि माननीय न्यायमूर्ति सतपाल के समक्ष पहले ही कई सुनवाई हो चुकी थीं और चूँकि प्रत्यर्थी ने समय-समय पर माननीय न्यायमूर्ति सतपाल द्वारा अधिनिर्णय देने के लिए समय बढ़ाने की सहमति दी थी, इसलिए प्रत्यर्थी पुनर्विलोकन आवेदन पर ज़ोर नहीं दे रहा था। यह भी आदेश दिया गया कि उक्त रियायत को अन्य मामलों के लिए उदाहरण के तौर पर नहीं माना जाना चाहिए।

8. इसके बाद प्रत्यर्थी ने प्रत्यर्थी के प्रति-दावे को अभिलेख में लेने के लिए माननीय न्यायमूर्ति सतपाल (मध्यस्थ) के समक्ष दिनांक 16 मार्च, 2002

को एक आवेदन दायर किया। उक्त आवेदन को मध्यस्थ माननीय न्यायमूर्ति सतपाल के दिनांक 16 मार्च, 2002 के आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह भी उपवर्णित किया कि केवल ऊपर बताए गए विवादों को ही उनके पास संदर्भित किया गया था और प्रत्यर्थी के प्रति-दावे से संबंधित कोई विवाद उनके पास संदर्भित नहीं किया गया था।

9. इसके बाद प्रत्यर्थी ने अं.आ. संख्या 3/2002 दायर किया जिसका निपटान शीर्ष न्यायालय ने 18 अक्टूबर, 2000 को किया। उक्त आवेदन में प्रत्यर्थी ने प्रतिवाद किया कि चूँकि माननीय न्यायमूर्ति सतपाल ने उसके प्रतिविरोध पर विचार करने से इनकार कर दिया है, इसलिए 18 अक्टूबर, 2000 के आदेश को संशोधित किया जाना चाहिए और प्रत्यर्थी के प्रति-दावे को भी मध्यस्थ (माननीय न्यायमूर्ति सतपाल) के पास संदर्भित किया जाना चाहिए। उक्त आवेदन को 23 सितंबर, 2002 के एक अकारण आदेश (नॉन-स्पीकिंग ऑर्डर) के अंतर्गत खारिज कर दिया गया था।

10. यह भी उल्लेख किया जाएगा कि याचिकाकर्ता ने माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 20 के अंतर्गत एक और याचिका दायर की थी और जिसे मध्यस्थ माननीय न्यायमूर्ति सतपाल के समक्ष कुछ अन्य दावों के संदर्भ के लिए वाद संख्या 2858क/2000 के रूप में क्रमांकित किया गया था। उक्त याचिका पर 4 दिसंबर, 2002 के आदेश के अंतर्गत निर्णय लिया गया था और

याचिकाकर्ता के अतिरिक्त दावों को भी मध्यस्थ माननीय न्यायमूर्ति सतपाल के समक्ष संदर्भित किया गया था।

11. प्रत्यर्थी ने अनुबंध के अंतर्गत नियुक्ति प्राधिकरण को 7 फ़रवरी, 2002 को एक पत्र लिखा, जिसमें कहा गया कि याचिकाकर्ता द्वारा प्रत्यर्थी को 9,49,94,421.38 रुपये की राशि देय थी; कि उक्त दावा शुरू में माननीय न्यायमूर्ति सतपाल के समक्ष प्रति-दावे के रूप में दायर किया गया था; कि माननीय न्यायमूर्ति सतपाल ने विनिर्णय दिया था कि प्रत्यर्थी के उक्त दावे को न्यायालय द्वारा उनके पास संदर्भित नहीं किया गया था और मध्यस्थ के उक्त मत की संपुष्टि उच्चतम न्यायालय द्वारा की गई थी; इसलिए प्रत्यर्थी के लिए याचिकाकर्ता के विरुद्ध अपने दावों के न्यायनिर्णयन हेतु अनुबंध में मध्यस्थता खंड का अवलंब लेना आवश्यक हो गया था। इसलिए, प्रत्यर्थी ने अपने अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक से अनुरोध किया कि वह प्रत्यर्थी के दावों के न्यायनिर्णयन के लिए मध्यस्थ नियुक्त करें, जो अनुबंध में मध्यस्थता खंड में नामित व्यक्ति है। प्रत्यर्थी के अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक ने 18 फ़रवरी, 2003 के अपने पत्र में उल्लेख किया कि प्रत्यर्थी ने 7 फ़रवरी, 2003 के अपने पत्र में मध्यस्थता खंड का अवलंब लिया था और मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए अनुरोध किया था और प्रत्यर्थी संख्या 2 श्री ए.के. गुप्ता, प्रत्यर्थी के उप महाप्रबंधक को याचिकाकर्ता के विरुद्ध प्रत्यर्थी के दावों/विवादों के संबंध में एकमात्र मध्यस्थ नियुक्त किया था।

12. याचिकाकर्ता ने अपने दिनांक 13 फ़रवरी, 2003 के पत्र के माध्यम से प्रत्यर्थी संख्या 2 के मध्यस्थ के रूप में नियुक्ति का तत्काल विरोध किया और उसके बाद यह घोषणा करने के लिए वर्तमान याचिका दायर की कि इस याचिका में प्रत्यर्थी संख्या 2 के रूप में शामिल श्री ए.के. गुप्ता का आदेश समाप्त कर दिया गया है और श्री ए.के. गुप्ता विधितः और वस्तुतः मध्यस्थ के रूप में अपना कार्य करने में असमर्थ हैं। वर्तमान याचिका में दिनांक 3 अप्रैल, 2003 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी संख्या 1 के अध्यक्ष-सह-प्रबंध निदेशक के दिनांक 18 फ़रवरी, 2003 के पत्र के कार्यान्वयन और उक्त पत्र द्वारा नियुक्त मध्यस्थ श्री ए.के. गुप्ता के समक्ष किसी भी कार्यवाही पर रोक लगा दी गई थी।

13. याचिकाकर्ता के अधिवक्ता का मुख्य प्रतिविरोध यह है कि प्रत्यर्थी का दावा उस अनुबंध से उत्पन्न होता है जो 22 सितंबर, 1992 को समाप्त हो गया था। इस प्रकार, मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए प्राधिकारी के रूप में अनुबंध में नामित व्यक्ति को 7 फ़रवरी, 2003 को प्रत्यर्थी द्वारा किया गया अनुरोध अत्यधिक विलंबित और समयवर्जित था। इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिविरोध दिया गया कि उपरोक्त कार्यवाही को ध्यान में रखते हुए श्री ए.के. गुप्ता मध्यस्थ के रूप में अपना कार्य करने के हकदार नहीं हैं। इसके विपरीत, प्रत्यर्थी के अधिवक्ता ने आग्रह किया कि याचिकाकर्ता द्वारा उक्त सभी अभिवाक् अधिनियम की धारा 16 के अंतर्गत मध्यस्थ के समक्ष रखी जानी

चाहिए और अधिनियम की धारा 14 और 15 के अंतर्गत याचिका में उन पर विचार नहीं किया जाना चाहिए।

14. 1996 के अधिनियम की धारा 5 न्यायिक हस्तक्षेप को प्रतिबंधित करती है, सिवाय इसके कि अधिनियम द्वारा ऐसा प्रावधान किया गया हो। अधिनियम की धारा 14 का शीर्षक है "असफलता या कार्य करने में असंभवता"। न्यायालय को हस्तक्षेप करने की अनुमति दी गई है, जब मध्यस्थ विधितः या वस्तुतः अपने कार्य करने में असमर्थ हो जाता है या अन्य कारणों से बिना किसी देरी के कार्य करने में विफल हो जाता है। वस्तुतः, विधितः शब्दों को क्या अर्थ दिया जाना चाहिए तथा अन्य कारण क्या हैं। याचिकाकर्ता के अधिवक्ता का कहना है कि ऐसी स्थिति में जहाँ मध्यस्थता दुर्भावनापूर्ण तरीके से की गई है, जैसा कि प्रतिवाद किया गया है, वर्तमान मामले में किया गया है, हस्तक्षेप करना और यह अभिनिर्धारित करना न्यायालय का कर्तव्य है कि मध्यस्थता करने का कोई आदेश नहीं है। याचिकाकर्ता के अधिवक्ता ने एसबीपी एंड कंपनी बनाम पटेल इंजीनियरिंग लिमिटेड 2005 8 एस.सी.सी. 618 पर काफ़ी ज़ोर दिया है और आग्रह किया है कि धारा 14 के अंतर्गत न्यायालय की शक्तियाँ अधिनियम की धारा 11(6) के अंतर्गत शक्तियों के समान हैं, जैसा कि अब शीर्ष न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा व्याख्या की गई है और चूँकि शीर्ष न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि अधिनियम की धारा 11(6) के अंतर्गत न्यायालय को यह निर्णय लेने का अधिकार है कि क्या

दावा समाप्त हो चुका है या लंबे समय से वर्जित दावा है या इसे पुनर्जीवित करने की माँग की गई थी और यह भी कि क्या पक्षकारगण ने अपने पारस्परिक अधिकारों और दायित्वों की संतुष्टि दर्ज करके लेनदेन को संपन्न किया है, इसलिए न्यायालय को भी, जहाँ मध्यस्थ को न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना नियुक्त किया गया है, यदि अधिनियम की धारा 14 के अंतर्गत बुलाया जाता है और यदि पाता है कि मध्यस्थता एक मृत या लंबे समय से अवरुद्ध या अस्तित्वहीन दावे के लिए माँगी गई है, तो उसे हस्तक्षेप करना चाहिए और नियुक्ति को अपास्त कर देना चाहिए।

15. इसके विपरीत प्रत्यर्थीगण के अधिवक्ता का प्रतिवाद है कि याचिकाकर्ता के विरुद्ध प्रत्यर्थीगण के दावों पर, प्रत्यर्थीगण द्वारा बहुत पहले ही उठाए गए दावों के बावजूद और उपरोक्त आदेशों के बावजूद कि मध्यस्थ भी उनके दावों पर निर्णय लेंगे, आज तक गुणागुण के आधार पर निर्णय नहीं लिया गया है। उन्होंने आगे प्रस्तुत किया कि याचिकाकर्ता के दावों पर दिया गया अधिनिर्णय प्रत्यर्थीगण के दावों पर अधिनिर्णय नहीं होगा और इसे पूर्व न्याय या रचनात्मक पूर्व न्याय द्वारा वर्जित नहीं किया जाएगा। **उड़ीसा राज्य बनाम गोकुलानंद जेना** 2003 (5) स्केल 543 में निर्णय के पैरा 8 और **एसबीपी एंड कंपनी** के पैरा 47 के उपपैरा (ix) में निष्कर्ष पर भरोसा करते हुए प्रतिवाद दिया गया कि जहाँ मध्यस्थता अधिकरण धारा 11(6) के संसाधन के बिना गठित किया गया है, वहाँ धारा 16 में परिकल्पित सभी मामलों को तय

करने का अधिकार क्षेत्र होगा और चूँकि वैकल्पिक उपाय उपलब्ध हैं, इसलिए न्यायालय को चुनौती पर विचार नहीं करना चाहिए। **कुन्हायम्मेद एवं अन्य बनाम केरल राज्य** (2006) 6 एस.सी.सी. 359 पर भी भरोसा किया गया, ताकि यह प्रतिवाद किया जा सके कि शीर्ष न्यायालय द्वारा वि.अनु.या. और आवेदन को खारिज करने से कोई पूर्व-न्यायिकता नहीं थी। याचिकाकर्ता के अधिवक्ता ने प्रत्युत्तर में **वेलिंगटन एसोसिएट्स लिमिटेड बनाम किरीट मेहता** (2000) 4 एस.सी.सी. 272 पर भरोसा किया, जिसे **एसबीपी एंड कंपनी** में मंजूरी दी गई थी, यह प्रतिवाद करने के लिए कि धारा 16 के अंतर्गत उपाय की उपलब्धता को अधिनियम की धारा 11(6) के अंतर्गत अधिकार क्षेत्र के प्रयोग पर वर्जन नहीं लगाया गया था।

16. अधिनियम की धारा 32 में मध्यस्थता कार्यवाही को समाप्त करने के तरीके बताए गए हैं। इस न्यायालय की खंड पीठ ने **सुरिंदर पाल सिंह बनाम एचपीसीएल** 136 (2007) डी.एल.टी. 646 में अभिनिर्धारित किया है कि कार्यवाही तब तक लंबित मानी जाएगी जब तक धारा 32 में परिकल्पित घटनाओं में से कोई एक घटना घटित नहीं होती।

17. **श्याम टेलीकॉम लिमिटेड बनाम एआरएम लिमिटेड** 113(2004) डी.एल.टी. 778 में इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि धारा 14 में उल्लिखित विधितः असंभवता वह असंभवता है जो मध्यस्थ के व्यक्तिगत कारक के कारण होती है और वस्तुतः असंभवता मध्यस्थ के नियंत्रण से परे

कारकों के कारण होती है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि सहमत समय के भीतर मध्यस्थता कार्यवाही का समापन न होने से मध्यस्थ विधितः कार्यवाही जारी रखने में असमर्थ हो गया।

18. मैं यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड बनाम मैसर्स कुमार टेक्सचराइज़र्स और अन्य ए.आई.आर. 1999 बॉम्बे 118 पर भी गौर करूँगा, जहाँ एक माननीय एकल न्यायाधीश ने अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम की धारा 14 के अंतर्गत न्यायालय को यह घोषित करने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है कि मध्यस्थता के लिए कोई विवाद मौजूद नहीं है। हालाँकि, वे एसबीपी एंड कंपनी के पहले के दिन थे। तब से शीर्ष न्यायालय ने (एसबीपी एंड कंपनी के पैरा 32 को देखें) यह अभिनिर्धारित किया है कि पक्षकार को पर्याप्त व्यय करके लंबे समय तक चलने वाली मध्यस्थता कार्यवाही में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए और फिर अधिनियम की धारा 34 के अंतर्गत एक आवेदन के साथ न्यायालय में आना चाहिए, जिसमें इस आधार पर अधिनिर्णय को अपास्त करने की माँग की गई हो कि कोई मध्यस्थता अनुबंध नहीं था या अधिकरण के गठन के समय मध्यस्थता करने के लिए कुछ भी नहीं था। शीर्ष न्यायालय ने अधिनिर्णय से पहले न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप की तुलना समय और व्यय को बचाने वाले मध्यस्थता अधिकरण से की और मध्यस्थता अधिकरण को अधिक उपयुक्त माना।

19. क्या शीर्ष न्यायालय द्वारा धारा 11(6) के अंतर्गत न्यायालय के हस्तक्षेप के साथ मध्यस्थता में अपनाए गए दृष्टिकोण को उन मध्यस्थताओं पर लागू/विस्तारित किया जा सकता है, जहाँ न्यायालय का कोई हस्तक्षेप नहीं है और पक्षकारगण ने स्वयं मध्यस्थ की नियुक्ति की है - जिससे पक्षकारगण को मध्यस्थता की प्रारंभिक अवस्था में ही धारा 14 के अंतर्गत न्यायालय का रुख करने का अधिकार मिले, ताकि यह घोषणा की जा सके कि वास्तव में कोई मध्यस्थता समझौता मौजूद नहीं है या दावा अव्यवहारिक है, जैसा कि वर्तमान मामले में है।

20. 1940 के अधिनियम के अंतर्गत शीर्ष न्यायालय को **पंचू गोपाल बोस बनाम कलकत्ता बंदरगाह के न्यासी मंडल** ए.आई.आर. 1994 एस.सी. 1615 के वर्तमान मामले जैसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा। वहाँ भी, 1978-79 में कार्य निष्पादित किए गए, 12 जुलाई, 1979 को बिल भेजे गए और पहली बार 28 नवंबर, 1989 को मध्यस्थता के लिए संदर्भ माँगा गया। इसके प्राप्त होने पर, 1940 अधिनियम की धारा 5, 12 और 33 के अंतर्गत अन्य बातों के साथ-साथ वाद दायर किए गए। कलकत्ता उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने अभिनिर्धारित किया कि दावा 10 वर्ष के बाद किया गया था और समय के कारण इसे पूरी तरह से वर्जित किया जाना चाहिए और अभिनिर्धारित किया कि मध्यस्थता आगे नहीं बढ़ सकती है और इसे हस्तक्षेप के लिए एक असाधारण मामला पाते हुए, मध्यस्थता खंड को रद्द कर दिया।

खंड पीठ में की गई अपील खारिज कर दी गई और शीर्ष न्यायालय का रुख किया गया। उस मामले में भी याचिकाकर्ता का तर्क यह था कि याचिकाकर्ता ने विधिक रूप से मध्यस्थता खंड का अवलंब लिया था और मध्यस्थ नियुक्त किया जाना बाध्य था और न्यायालय 1940 अधिनियम की धारा 5 के अंतर्गत शक्ति का प्रयोग करके प्रक्रिया को बाधित नहीं कर सकता था।

21. इस स्तर पर 1940 के अधिनियम की धारा 5 का उल्लेख किया जाएगा :

“एक नियुक्त मध्यस्थ या पंच का प्राधिकार न्यायालय की अनुमति के बिना वापस नहीं लिया जा सकेगा, जब तक कि मध्यस्थता अनुबंध में इसके विपरीत आशय व्यक्त न किया गया हो।”

22. शीर्ष न्यायालय ने उस मामले में अभिनिर्धारित किया कि 1940 के अधिनियम की धारा 12(2)(ख) के साथ धारा 5 के अंतर्गत, न्यायालय को दी गई परिस्थितियों में एक संविदा करने वाले पक्षकार को मध्यस्थ या पंच की नियुक्ति को हटाने और मध्यस्थता अनुबंध को रद्द करने की अनुमति देने की शक्ति दी गई है। न्यायालय ने आगे अभिनिर्धारित किया कि उक्त विवेक का उपयोग सावधानी से और संयम से किया जाना चाहिए, यह देखते हुए कि पक्षकारगण को उनके द्वारा चुने गए अधिकरण से मुक्त नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि उन्हें डर है कि मध्यस्थ का निर्णय उनके विरुद्ध जा सकता है। जिन आधारों पर शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है, उन्हें पाँच शीर्षकों के

अंतर्गत रखा गया है: (1) मध्यस्थ द्वारा अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण या इनकार; (2) मध्यस्थ का कदाचार; (3) मध्यस्थ की अयोग्यता; (4) धोखाधड़ी के आरोप और; (5) अपवादात्मक मामले।

शीर्ष न्यायालय ने आगे अभिनिर्धारित किया कि भारतीय परिसीमा अधिनियम के सभी उपबंध मध्यस्थता पर लागू होते हैं और कहा कि मध्यस्थता तब शुरू मानी जाती है जब मध्यस्थता अनुबंध का एक पक्षकार दूसरे पक्षकार को मध्यस्थ की नियुक्ति की आवश्यकता वाला नोटिस देता है। 1996 के अधिनियम के अंतर्गत भी यही स्थिति है।

23. शीर्ष न्यायालय ने रॉबर्टसन के इतिहास का उद्धरण देते हुए आगे उल्लेख किया कि ईमानदार लोग विधिक मुकदमों से ज़्यादा मध्यस्थता से डरते हैं। न्यायालय ने **पेग्लर बनाम रेलवे कार्यकारी**, 1948 अपील मामले 332 का भी अनुमोदन के साथ उद्धरण दिया, जिसमें हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स ने अभिनिर्धारित किया कि जिस तरह मुकदमों के मामले में दावा उस तिथि से निर्दिष्ट वर्षों की समाप्ति के बाद नहीं लाया जाना चाहिए, जिस दिन से वाद हेतुक उत्पन्न हुआ था, उसी तरह मध्यस्थता के मामले में भी दावा उस तिथि से निर्दिष्ट वर्षों की समाप्ति के बाद आगे नहीं रखा जाना चाहिए, जब दावा उत्पन्न हुआ था। शीर्ष न्यायालय ने **मुस्टियू और बॉयड के वाणिज्यिक मध्यस्थता** का उद्धरण देते हुए अभिनिर्धारित किया कि न्यायालय में व्यादेश के माध्यम से हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है, ताकि प्रत्यर्थी को

ऐसे दावे से परेशान होने से रोका जा सके, जो कभी भी वैध अधिनिर्णय की ओर नहीं ले जा सकता है, उदाहरण के लिए ऐसे मामलों में जहाँ कथित मध्यस्थता अनुबंध के संबंध में दावा लाया जाता है जो वास्तव में मौजूद नहीं है या जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका है और जहाँ विवाद मध्यस्थता अनुबंध के दायरे से बाहर है। शीर्ष न्यायालय ने उच्च न्यायालय की एकल पीठ के निर्णय को बरकरार रखा और विशेष अनुमति याचिका को खारिज कर दिया।

24. हालाँकि 1996 के अधिनियम में 1940 के अधिनियम की धारा 5 का कोई शाब्दिक समतुल्य नहीं है, लेकिन मेरी राय में **पंचू गोपाल बोस** (पूर्वोक्त) में व्याख्यायित पुराने अधिनियम की धारा 5 को 1996 के अधिनियम की धारा 14 के रूप में जगह मिलती है। मध्यस्थ के व्यादेश को समाप्त करने के लिए न्यायालय को दिए गए अधिकार की कोई अन्य व्याख्या नहीं हो सकती है, जब मध्यस्थ विधितः यह कार्य करने में असमर्थ हो। विधितः असंभवता विधि में असंभवता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। इस तथ्य पर न्यायिक संज्ञान लिया जा सकता है कि बड़ी संख्या में मध्यस्थता अनुबंध मानक रूप के अनुबंध हैं और जिनमें वास्तव में कोई बातचीत नहीं होती है। इस तथ्य पर भी न्यायिक संज्ञान लिया जा सकता है कि सरकार और सरकारी एजेंसियाँ संविदाकारों के सबसे बड़े नियोक्ता हैं और उनकी सभी संविदाओं में अनिवार्य रूप से एक मध्यस्थता खंड होता है जो उनके अपने अधिकारियों को मध्यस्थों की नियुक्ति करने का अधिकार देता है। जब तक धारा 14 के

उपबंधों को **एसबीपी एंड कंपनी** (पूर्वोक्त) में निर्धारित उपबंधों के साथ असंगतता से नहीं पढ़ा जाता है, तब तक यह नियोक्ताओं के हाथों में संविदाकारों को परेशान करने, लंबे समय से समाप्त हो चुकी संविदाओं में मध्यस्थता खंडों का अवलंब लेने, संविदाकारों को मौजूदा संविदाओं के अंतर्गत भुगतान से वंचित करने का एक माध्यम देगा।

25. हालाँकि, धारा 14 के अंतर्गत उक्त शक्ति का उपयोग संयम से और बहुत सावधानी से तथा उन्हीं मापदंडों पर किया जाना चाहिए जैसा कि शीर्ष न्यायालय ने **एसबीपी एंड कंपनी** में धारा 11(6) के संबंध में (पैरा 39 में) निर्धारित किया है। केवल तभी जब तथ्यों से कोई संदेह न हो कि दावा समाप्त हो चुका है या लंबे समय से लंबित है या लेन-देन संपन्न हो चुका है, उक्त शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि विधि और तथ्यों की गहन जाँच के बिना ऐसा निर्णय लेना संभव नहीं है, तो इस प्रश्न को मध्यस्थता अधिकरण द्वारा तय किए जाने के लिए छोड़ देना उचित होगा।

26. इस प्रकार, मेरा मत है कि अधिनियम की धारा 14 के अंतर्गत याचिका में, यदि न्यायालय पाता है कि न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना मध्यस्थता लंबे समय से लंबित दावे या अयोग्य मध्यस्थता दावे के लिए की गई है, तो न्यायालय को मध्यस्थ के आदेश को समाप्त करने का अधिकार है।

27. वर्तमान मामले में उपरोक्त सिद्धांतों को लागू करते हुए, यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यर्थी ने 1993 में ही अपना दावा पेश कर दिया था। यही

कारण है कि श्री दलजीत सिंह को प्रत्यर्चीगण के दावों पर भी न्यायनिर्णयन करने के लिए मध्यस्थ नियुक्त किया गया था। खंड पीठ ने यह भी आदेश दिया था कि श्री दलजीत सिंह के समक्ष प्रत्यर्चीगण का प्रति-दावा परिसीमा के भीतर था। जब मामला शीर्ष न्यायालय में भी गया, तो शीर्ष न्यायालय ने प्रत्यर्चीगण को एकल न्यायाधीश के समक्ष अपने पुनर्विलोकन आवेदन को आगे बढ़ाने की स्वतंत्रता दी। हालाँकि, उक्त पुनर्विलोकन आवेदन 6 फ़रवरी, 2001 को खारिज कर दिया गया। इसके तुरंत बाद प्रत्यर्चीगण ने मध्यस्थ के समक्ष अपने दावे पेश किए। हालाँकि, उक्त आवेदन 16 मार्च, 2002 को खारिज कर दिया गया और प्रत्यर्ची ने तुरंत मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए नियुक्ति प्राधिकरण को पत्र लिखा। उपर्युक्त परिस्थितियों में, इस स्तर पर वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्यर्चीगण के दावे समाप्त हो चुके थे या प्रत्यर्ची इन्हें लंबे समय के बाद पुनर्जीवित करना चाह रहे हैं। प्रत्यर्ची के अधिवक्ता ने सही तर्क दिया है कि इस बात पर न्यायनिर्णयन किया जाना चाहिए कि प्रत्यर्चीगण के दावे समय के भीतर हैं या नहीं। 1996 के अधिनियम की धारा 21 के अंतर्गत भी, मध्यस्थता उस तिथि से शुरू मानी जाती है जिस दिन मध्यस्थता के लिए संदर्भ के लिए अनुरोध किया जाता है। वर्तमान मामले में प्रत्यर्ची द्वारा अनुरोध परिसीमा के भीतर किया गया प्रतीत होता है। उसके बाद प्रत्यर्ची ने किसी न किसी रूप में अपने प्रति-दावे को आगे बढ़ाया है जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, लेकिन उसे कोई सफलता नहीं मिली है। यह

केवल उचित निर्णय पर ही निर्धारित किया जा सकता है कि प्रतिदावे समय के भीतर हैं या नहीं, प्रत्यर्थी ने अपने अधिकारों के बारे में गलत जानकारी दी है या नहीं।

28. वर्तमान मामला अपवाद की श्रेणी में नहीं आता है, जहाँ मध्यस्थ के आदेश को समाप्त करने के लिए अधिनियम की धारा 14 के अंतर्गत शक्ति का अवलंब लिया जा सकता है। इस प्रश्न को मध्यस्थता अधिकरण द्वारा निर्णीत किए जाने के लिए छोड़ देना उचित है।

29. इसलिए याचिका विफल हो जाती है और खारिज की जाती है, हालाँकि, जुर्मानों के बारे में कोई आदेश नहीं।

**राजीव सहाय एंडलॉ
(न्यायाधीश)**

20 अगस्त, 2008

एम

(Translation has been done through AI Tool: SUVAS)

अस्वीकरण : देशी भाषा में निर्णय का अनुवाद मुकद्दमेबाज़ के सीमित प्रयोग हेतु किया गया है ताकि वो अपनी भाषा में इसे समझ सकें एवं यह किसी अन्य प्रयोजन हेतु प्रयोग नहीं किया जाएगा। समस्त कार्यालयी एवं व्यावहारिक प्रयोजनों हेतु निर्णय का अंग्रेज़ी स्वरूप ही अभिप्रमाणित माना जाएगा और कार्यान्वयन तथा लागू किए जाने हेतु उसे ही वरीयता दी जाएगी।